आदि शंकराचार्य

आदि शंकराचार्य

मीना मनिषिका

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
ISO 9001:2008 प्रकाशक

आदि शंकराचार्य

शंकराचार्य उच्च कोटि के संन्यासी, दार्शनिक एवं अद्वैतवाद के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार सम्राट् चंद्रगुप्त ने आज से करीब 2350 वर्ष पूर्व छोटे-छोटे राज्यों में बँटे भारत को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधा था, उसी प्रकार लगभग 1300 वर्ष पूर्व आचार्य शंकर ने देश को धार्मिक एवं सांस्कृतिक रूप से एकताबद्ध किया था।

जिस समय शंकराचार्य का प्रादुर्भाव हुआ उस समय देश में वैदिक धर्म लुप्तप्राय हो गया था। चारों ओर बौद्ध धर्म ही छाया हुआ था। शंकराचार्य ने अपनी विद्वत्ता एवं प्रबल तर्कों के बल पर बौद्ध तथा अन्य धर्मावलंबियों को परास्त कर वैदिक सनातनधर्म का प्रचार किया।

आचार्य शंकर के जन्म विक्रम संवत् 845 तदनुसार सन् 788 में वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी को केरल के ग्राम कालडी में हुआ था। कुछ लोग कालडी को 'कालंदी' भी कहते हैं। यह गाँव पूर्णा नदी के तट पर बसा है।

आचार्य शंकर के पिता का नाम शिवगुरु था और माता का नाम सुभद्रा था। कुछ लोग उनकी माँ का नाम आर्यांबा भी बताते हैं। शंकर के माता-पिता सनातनी नंबूदरी ब्राह्मण थे। शंकर के माता-पिता दोनों सुशिक्षित थे। उनका रहन-सहन एवं खान-पान सादगीपूर्ण था। ईश्वर के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। तमाम व्रतों, उपवासों एवं मनौतियों के बाद प्रौढ़ावस्था में उनके यहाँ एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम शंकर रखा गया।

बचपन से ही शंकर शांत एवं गंभीर स्वभाव के थे। उनकी बुद्धि बहुत तेज थी। उन्होंने एक वर्ष की आयु में मातृभाषा मलयालम और देववाणी संस्कृत बोलना आरंभ कर दिया था। दूसरे वर्ष में वह इन भाषाओं में लिखना-पढ़ना सीख गए। माता उन्हें पुराणों की कहानियाँ सुनाया करती थीं।

शिक्षा के क्षेत्र में उनकी यह प्रगति सुशिक्षित माता-पिता की देन थी। जब शंकर तीन साल के हुए तब उनका मुंडन किया गया। इसके कुछ ही दिनों बाद उनके पिता का देहांत हो गया।

अब बालक शंकर के पालन-पोषण का भार उनकी माता पर आ गया। पाँच वर्ष में माता ने शंकर का उपनयन संस्कार कर दिया। उन्होंने बालक को श्रेष्ठ शिक्षा दिलाने के उद्देश्य से उसे निकटवर्ती पूर्णा नदी के तट पर स्थित एक गुरुकुल में भेजा।

शंकर की प्रतिभा एवं विलक्षण बुद्धि देखकर गुरु बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने शंकर को विभिन्न शास्त्रों की अच्छी शिक्षा दी। अल्पकाल में ही शंकर ने गुरुकुल में वेद, वेदांत आदि की शिक्षा प्राप्त कर ली।

गुरुकुल की प्रथा के अनुसार छात्रों को भिक्षा माँगकर ही अपने आहार का प्रबंध करना पड़ता था। शंकर को भी इस प्रथा का पालन करना पड़ा। वह भी भिक्षा पात्र लेकर भिक्षाटन पर जाते और रूखा-सूखा जो भी मिल जाता, उसी से गुजारा करते।

इस भिक्षाटन का एक लाभ यह हुआ कि शंकर को शास्त्रीय ग्रंथों के साथ-साथ सामाजिक व्यवहार का भी अच्छा ज्ञान हो गया; क्योंकि भिक्षाटन के दौरान उन्हें नित्य आम जन-जीवन को निकट से देखने का मौका मिलता। इससे उनकी दृष्टि व्यापक होती गई। गरीब और असहाय लोगों की दुर्दशा ने उन्हें भीतर तक प्रभावित किया। माया-मोह में फँसे मनुष्य के लिए वह मुक्ति का सरल उपाय खोजने की ओर प्रवृत्त हुए। लेकिन यह कार्य गुरुकुल की परंपरागत शिक्षा से संभव नहीं था। इसलिए आठ वर्ष की अवस्था में वह गुरुकुल की शिक्षा समाप्त कर घर लौट आए।

जीवन्मुक्ति के लिए जिस साधना और चिंतन-मनन की आवश्यकता थी, वह उन्हें घर में भी नहीं मिल सका, क्योंकि माता का स्नेह आड़े आ जाता था। काफी सोच-विचार के बाद एक दिन शंकर ने घर-गृहस्थी का जंजाल छोड़कर संन्यास लेने का निश्चय कर लिया। किंतु यहाँ भी माता का स्नेह रुकावट बन गया। इकलौते पुत्र को माँ संन्यास लेने की अनुमति कैसे दे सकती थीं। मातृ-स्नेह के समक्ष शंकर की विनय, प्रार्थना और तर्क-युक्ति की एक न चली।

अचानक एक दिन मलाबार के राजा का एक प्रस्ताव लेकर उनका राज्य मंत्री शंकर की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने राजा की ओर से शंकराचार्य को एक हाथी और बहुत सा धन भेंट करते हुए राजपंडित बनकर दरबार की शोभा बढ़ाने के लिए निवेदन किया। वास्तव में शंकराचार्य की विद्वत्ता एवं बुद्धिमत्ता की चर्चाएँ सुनकर राजा उनसे बहुत प्रभावित हुआ था। वह विद्वानों का परम भक्त था।

किंतु शंकराचार्य को राजपंडित बनने में कोई रुचि नहीं थी। वह तो इससे भी बृहत्तर कार्य करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने राजा द्वारा भेजे गए उपहार तथा प्रस्ताव को विनम्रतापूर्वक लौटा दिया।

यह जानकर राजा और भी दंग रह गया। अगले ही दिन वह स्वयं आचार्य शंकर के दर्शनों के लिए दौड़ा आया। उसने शंकराचार्य के चरणों में कुछ पुस्तकें और 10 हजार स्वर्णमुद्राएँ अर्पित कीं। शंकराचार्य ने पुस्तकें तो ले लीं, पर स्वर्णमुद्राओं को हाथ भी नहीं लगाया।

इसके बाद की एक घटना है। एक दिन आचार्य शंकर स्नान करने नदी पर गए। जल में एक मगरमच्छ ने उन्हें पकड़ लिया। उनकी माता तट पर खड़ी थीं। बेटे को संकट में देखकर वह रोने-चिल्लाने लगीं।

शंकराचार्य इस मौके को हाथ से नहीं जाने देना चाहते थे। इसलिए उन्होंने माता से कहा, 'माँ, अगर आप मुझे संन्यास लेने की अनुमति दे दें तो यह मगरमच्छ मुझे अवश्य छोड़ देगा।'

विवश माँ को अनुमति देनी पड़ी; किंतु उन्होंने शंकर से यह वचन अवश्य ले लिया कि माँ का अंतिम संस्कार वही करेंगे।

शंकर ने माँ को यह वचन दे दिया और मगरमच्छ से अपना पैर छुड़ाकर नदी से ही नहीं, घर से भी बाहर निकल आए। वहाँ से वह नर्मदा के तट पर स्थित ओंकारेश्वर पहुँचे। वहीं उन्होंने स्वामी गोविंद भगवत्पाद से संन्यास की दीक्षा ले ली और साधनारत हो गए। थोड़े ही समय की साधना से उन्हें योगसिद्धि प्राप्त हो गई।

शंकराचार्य की सफल साधना से प्रसन्न होकर गुरु स्वामी गोविंद ने उन्हें काशी जाकर वेदांत पर भाष्य लिखने का निर्देश दिया। गुरु के निर्देश पर शंकराचार्य काशी पहुँचे। वहाँ उन्होंने भगवान् विश्वनाथ की उपासना की और वेदांत पर भाष्य-लेखन आरंभ कर दिया।

उन्हीं दिनों काशी में एक वृहद् धर्मसभा का आयोजन हुआ, जिसमें देश के बड़े-बड़े विद्वानों ने भाग लिया। शंकराचार्य भी उसमें सम्मिलित हुए। उन्होंने वहाँ वैदिक धर्म पर सारगर्भित व्याख्यान दिया, जिससे विद्वत्समुदाय बहुत प्रभावित हुआ। शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन:प्रतिष्ठा हेतु विद्वानों का आह्वान भी किया।

शंकराचार्य के ज्ञान एवं उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर अनेक लोग उनके शिष्य बन गए। उस समय वह 16-17 वर्ष के युवा थे। एक युवा संन्यासी का ज्ञान, उसकी प्रतिभा और शिष्य संख्या देखकर लोग दाँतों तले उँगली दबाने लगे। धीरे-धीरे देश भर में उनकी ख्याति फैलने लगी।

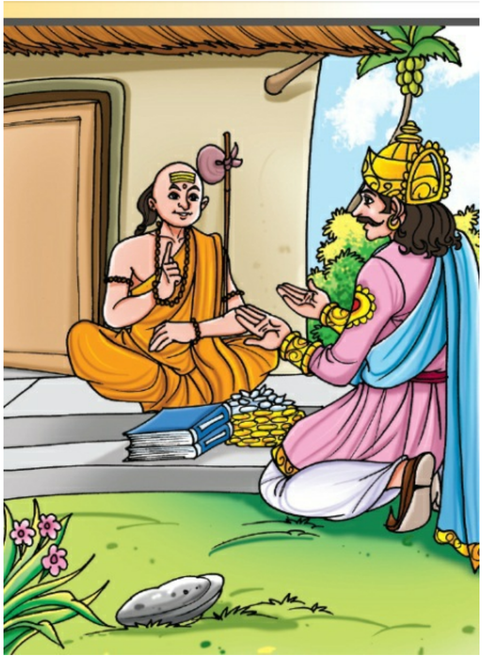

एक दिन प्रात:काल शंकराचार्य गंगास्नान करने जा रहे थे। अचानक उनके रास्ते में निम्न जाति का एक अछूत व्यक्ति आ गया। शंकराचार्य ने उसे रास्ते से हटने के लिए झिड़का।

उस व्यक्ति ने शंकराचार्य के रास्ते से हटने के बजाय कहा, ''तुम किसे अछूत कह रहे हो? इस शरीर को अथवा आत्मा को? क्या यह शरीर भी उस मिट्टी से नहीं बना है, जिससे तुम्हारा शरीर बना है? क्या आत्मा भी अशुद्ध अथवा दूषित होती है? फिर वह आत्मा, जो सर्वत्र है, किसी से दूर कैसे रह सकती है, जिस प्रकार वह सर्वव्यापी है? तब फिर तुममें और मुझमें कौन सा अंतर है?''

यह एक ऐसी स्थिति थी, जिसमें अन्य कोई होता तो संभ्रमित हो उठता, गड़बड़ा जाता; किंतु शंकर इस उत्तर से जरा भी विचलित नहीं हुए। अपनी सारी प्रतिष्ठा को एक ओर रखकर वे उस व्यक्ति के चरणों में गिर पड़े। उसे साष्टांग प्रणाम किया। वे सोचने लगे, 'यह तो कोई सामान्य व्यक्ति नहीं। आत्मा की प्रकृति को इतने सरल शब्दों और आसान तरीके से स्पष्ट करनेवाला व्यक्ति कदापि सामान्य व्यक्ति नहीं हो सकता। यह साक्षात् परमेश्वर के अलावा और कोई नहीं। इंद्रियों से परे अंतरात्मा के ज्ञान की अनुभूति! यह सुख क्या काशी विश्वेश्वर की कृपा का प्रसाद नहीं है!'

कहते हैं कि इस घटना ने शंकराचार्य को अद्वैतवाद की ओर प्रवृत्त कर दिया। उनके सोचने-विचारने में परंपरागत शास्त्रीयता की जगह मौलिक चिंतन आ गया। अब वह विभिन्न मतावलंबियों से धार्मिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर विचार-विमर्श ही नहीं, शास्त्रार्थ भी करने लगे। उन्होंने समाज में प्रचलित अंधविश्वासों को चुनौती देना शुरू कर दिया। इन शास्त्रार्थों में प्रेम, एकता एवं अद्वैतवाद के प्रचारक शंकराचार्य को पग-पग पर विजय मिलने लगी।

काशी में वेदांत भाष्य पूरा होने के बाद वह अपने मत के प्रचार एवं वैदिक धर्म की पुन:प्रतिष्ठा के लिए अन्य नगरों में भी गए। यातायात के साधनों के अभाव में पैदल ही जंगलों, पहाड़ों और नदियों को पार करना कितना कठिन कार्य था—इसे भुक्तभोगी ही जान सकते हैं।

अपने मतादि की विजय-पताका फहराते हुए शंकराचार्य देश के कोने-कोने में गए। उन दिनों देश में बौद्ध और जैन धर्मों का विशेष प्रभाव था। दोनों ही धर्म वैदिक धर्म के प्रबल विरोधी थे। इसलिए शंकराचार्य ने इस ओर विशेष ध्यान दिया। इसमें एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी थी कि बौद्ध और जैन धर्मावलंबियों में भी आपसी संघर्ष चलता रहता था। शंकराचार्य विविध धर्मों के बीच की खाई पाटकर शुद्ध वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा करना चाहते थे।

इसलिए वह कुमारिल भट्ट से मिलने गए। कुमारिल भट्ट उस समय के प्रसिद्ध मीमांसक थे। वह अद्वितीय पंडित होने के साथ-साथ बौद्ध एवं जैन धर्मों के भी ज्ञाता थे। जब शंकराचार्य उनके पास पहुँचे तब वह अंतिम समाधि लेने जा रहे थे। इसलिए उन्होंने शंकराचार्य को अपने परम शिष्य मंडन मिश्र के पास भेजा। मंडन मिश्र एक विलक्षण प्रतिभाशाली विद्वान् थे। बड़े-बड़े दिग्गज उनसे शास्त्रार्थ करने में हिचकिचाते थे। मंडन मिश्र माहिष्मती नगर में रहते थे। शंकराचार्य वहाँ गए। उन्होंने मंडन मिश्र से शास्त्रार्थ किया।

शास्त्रार्थ से पूर्व दोनों विद्वानों ने यह तय किया कि जो शास्त्रार्थ में पराजित होगा, वह विजेता का शिष्यत्व स्वीकार करेगा।

दोनों ही विलक्षण बुद्धिमान थे। अब प्रश्न उपस्थित हुआ कि हार-जीत का निर्णायक कौन हो? मंडन मिश्र की पत्नी भारती भी अतिशय बुद्धिमती एवं विदुषी थीं। उन्हें विद्या की देवी सरस्वती का अवतार ही माना जाता था। अत: उन्हें ही निर्णायक बनाया गया।

शंकराचार्य और मंडन मिश्र के बीच शास्त्रार्थ में तर्क-वितर्क अनेक दिनों तक चलता रहा। अंत में मंडन मिश्र ने अपनी हार मान ली और शर्त के अनुसार वे संन्यासी होकर शंकराचार्य के शिष्य बन गए। आगे चलकर वे 'सुरेश्वराचार्य' के नाम से विख्यात हुए।

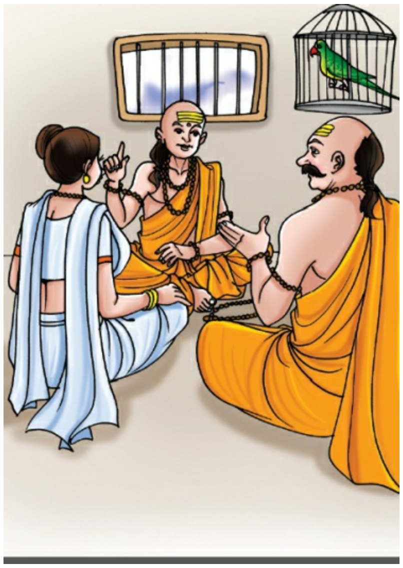

इसके बाद शंकराचार्य पवित्र श्रीशैल गए। उन्होंने वहाँ के कुख्यात तांत्रिक उग्र भैरव को शास्त्रार्थ में पराजित किया। उसने अपने काले जादू के बल पर शंकराचार्य को मार डालना भी चाहा, किंतु वह स्वयं उस जादू का शिकार बन गया।

शंकराचार्य के जीवन का अगला महत्त्वपूर्ण पड़ाव था श्रृंगेरी में, जो कर्नाटक में तुंगभद्रा नदी के तट पर बसा है। शंकराचार्य ने वहाँ अपने प्रथम वेदांत ज्ञानपीठ की स्थापना करते हुए विद्या की देवी श्रीशारदा की मूर्ति प्रतिष्ठापित की और अपने शिष्य सुरेश्वराचार्य को वहाँ का पीठाधिपति नियुक्त किया। यह पीठ दक्षिण भारत में वेदांत के प्रसार का केंद्र बना।

श्रृंगेरी के बाद शंकराचार्य ने पूर्व में जगन्नाथपुरी में गोवर्धन पीठ, पश्चिम में द्वारका में कालिका पीठ तथा उत्तर में बदरिकाश्रम में ज्योति पीठ की स्थापना की। ये पीठ 'अम्नाय पीठ' कहलाए।

शंकराचार्य के अनेक शिष्यों में चार प्रमुख शिष्य थे। उनके नाम हैं—पद्मपाद, सुरेश्वर, हस्तामलक और त्रोटक। शंकराचार्य ने श्रृंगेरी के शारदा पीठ में सुरेश्वराचार्य, द्वारका के कालिका पीठ में पद्मपादाचार्य, बदरी के ज्योति पीठ में त्रोटकाचार्य तथा जगन्नाथपुरी के गोवर्धन पीठ में हस्तामलकाचार्य को पीठाधिपति के रूप में नियुक्त किया।

इस बीच शंकराचार्य की वृद्धा माँ आर्यांबा का अंत काल आ गया। अत: माँ को दिए वचन की रक्षा के लिए उन्हें कालडी जाना पड़ा। वहाँ पहुँचने पर उन्हें पता चला कि माँ का देहांत हो गया है। अब उनके सामने माँ का अंतिम संस्कार करने की समस्या थी, क्योंकि भारतीय समाज में एक संन्यासी किसी का, यहाँ तक कि अपने माता-पिता का भी, अंतिम संस्कार नहीं कर सकता। दूसरे, संन्यासी का धर्म भी इस कार्य की अनुमति नहीं देता है। तीसरे, शंकराचार्य माँ का अंतिम संस्कार करने के लिए पहले से ही वचनबद्ध थे।

लेकिन समाज और संन्यासी—इन धर्मों के अतिरिक्त एक धर्म और होता है आपद्धर्म, जिसके अंतर्गत आपत्काल में यदि किसी धर्म का पालन न किया जा सके तो इससे धर्म की हानि नहीं होती। शंकराचार्य ने इस आपद्धर्म का ही सहारा लिया और माँ का अंतिम संस्कार करना अपना परम कर्तव्य समझा। तब शंकराचार्य ने अकेले ही बड़ी कठिनाई से माँ का शव ढोया और स्वयं अग्नि देकर उनका अंतिम संस्कार किया।

माँ का अंतिम संस्कार करने के बाद शंकराचार्य ने दक्षिण के रामेश्वरम् और कन्याकुमारी से उत्तर के कश्मीर तक तथा पूर्व में जगन्नाथपुरी से पश्चिम के द्वारका तक यात्रा करते हुए वैदिक धर्म का प्रचार किया। इस दौरान उन्होंने अनेक मंदिरों का जीर्णोद्धार भी किया।

शंकराचार्य ने अपने जीवन का आदर्श प्रस्तुत कर लोगों को जीना सिखाया। सही जीवन वास्तव में वही है जो ज्ञान, भक्ति, निष्ठा, वैराग्य आदि गुणों से चमक उठे। उन्होंने अद्वैतवाद का प्रचार किया, जिसका अर्थ होता है—इस चराचर ब्रह्मांड में सर्वत्र एक ही ब्रह्म व्याप्त है। ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। विश्व निरंतर परिवर्तनशील है—ये परिवर्तन न तो महत्त्वपूर्ण हैं और न वास्तविक। इसलिए हर व्यक्ति को इस संसार की प्रत्येक वस्तु को ईश्वर के रूप में देखना चाहिए। जिसकी दृष्टि इतनी विकसित हो जाती है, वही मनुष्य समग्र विश्व को अपनी मातृभूमि और सभी मानवों को अपना भाई मान सकता है।

शंकराचार्य के कार्यों की सीमा यहीं समाप्त नहीं होती। उन्होंने अनेक ग्रंथों की रचना की, जिनमें ब्रह्मसूत्रभाष्य तथा ईश, केन, कठ आदि लगभग 12 उपनिषदों के प्रामाणिक भाष्य, गीताभाष्य, सर्ववेदांत-सिद्धांत संग्रह, विवेक-चूडामणि, प्रबोध- सुधारक आदि विख्यात हैं।

शंकराचार्य ने अपने अंतिम दिन कहाँ बिताए, यह प्राय: अज्ञात है। हाँ, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर केवल 32 वर्ष की आयु में इस संसार से नाता तोड़कर ब्रह्मलीन हो गए थे।

सामान्य व्यक्ति को तो केवल जीवन का अर्थ समझने के लिए 32 वर्ष कम पड़ सकते हैं, किंतु शंकराचार्य ने इतनी अल्पायु में ही समस्त भारत में धर्म की ज्योति जगाई, धार्मिक पुनर्जागरण किया। धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में उनकी कृतियाँ भारत के प्राचीन धर्म की विशेषताओं का आख्यान मात्र हैं। उन्होंने अपने जीवन में सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भारतीय इतिहास की रचना की।

ऐसे महान् पुरुष का दिव्य जीवन हमें निरंतर प्रेरणा देता रहेगा।

❑❑❑